अन्वय – यज्ञेन देवाः यज्ञं अयजन्त। तानि प्रथमाणि धर्माणि आसन्। ते ह महिमानः नाकं सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति।

प्रसंग– प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के इक्कतीसवें अध्याय से उद्धृत है। इस अध्याय के सोलह मंत्रों में परम पुरुष परमेश्वर का वर्णन किया गया है। इसे समस्त सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, तथा उसने ही इन सम्पूर्ण जीव जन्तुओं को उत्पन्न किया, उसने ही समस्त ग्रहों, अतिग्रहों तथा ब्रह्माण्डों की रचना की। वह अन्न धन को देने वाला एवं सबका शासक है। ऋषि उसी का वर्णन करते हुए कहता हैं–

अनुवाद– यज्ञ से देवताओं ने यज्ञ पुरुष का सृजन किया। वे ही सर्वप्रथम धर्म थे। पूजन वाले देवताओं ने स्वर्ग को प्राप्त किया, जहां पर सृष्टि करने में समर्थ प्रजापति आदि पुराने देवता सिद्धगण निवास करते थे।

टिप्पणी–

(i) इसमें पुरुष देवता, नारायण ऋषि एवं त्रिष्टुप् छन्द है।

व्याकरण– यज् + लङ् + आ. प्र.पु.ब.व. – अयजन्त। अस् + लङ प्र.पु.ब.व. – आसन्। सच् + लङ प्र. पु. ब. व – सचन्त।

2.3 (आ) (i) राष्ट्राभिवर्धनम् सूक्त (1.29)

अभीवर्तेन मणिना,

येनेन्द्रो अभिवावृधे।

तेनास्मान् ब्रह्मणस्पते,

अभि राष्ट्राय वर्धय।।1।।

शब्दार्थ– अभीवर्तेन– चारों तरफ अप्रतिहत गति से घूमने वाली, मणिना– मणि से, येन– जिससे, इन्द्रः – इन्द्र, अभिवावृधे– समृद्ध हुआ, तेन– उससे, अस्मान्– हम लोगों को, ब्रह्मणस्पते– हे ब्रह्मणस्पति, राष्ट्राय– राष्ट्र की समृद्धि के लिए, अभिवर्धय – समृद्ध करो।

संदर्भ – प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के उनतीसवें सूक्त से अवतरित है। मंत्र में राष्ट्र की अभिवृद्धि के लिए आव्हान किया गया है।

अनुवाद– चारों तरफ (अप्रतिहत गति से) घूमने वाली मणि से जिससे इन्द्र बड़ा हुआ, हे ब्रह्मणस्पति, उस (मणि) से हम लोगों को राष्ट्र (की समृद्धि) के लिए बढ़ाओं।

टिप्पणी– अभिवाषृधे– अभि + वृध् + प्र.पु.ए.व.।

अभिवृत्यं सपत्ना

नभि या नो अरातयः।

अभि पृतुन्यतन्त तिष्ठा

भि यो नो दुरस्यति।। 2।।

शब्दार्थ– अभिवृत्य– चारों तरफ से घेर कर, सपत्नान्– प्रतिपक्षियों को, अभि– चारों तरफ से (घेर कर), याः – जो, नः – हमारे, अरातयः – कभी दान न देने वालों को, अभि– चारों तरफ से (घेर कर), पृतन्यन्तम्– युद्ध की इच्छा करने वाले को, अभितिष्ठ– पराजित करो, अभि– पराजित करो, यः – जो, नाः – हमको, दुरस्यति– दुर्व्यवहार करता है।

संदर्भ – प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के उनतीसवें सूक्त से अवतरित है। यहाँ राष्ट्र रक्षा के लिए शत्रु का पराजित करने हेतु कहा गया है।

अनुवाद– विपक्षियों को चारों तरफ से घेर कर, जो हमको नहीं देने वाले हैं (उनको भी घेर कर) (तथा जो हमसे) युद्ध की इच्छा करने वाले हैं (उनको भी घेर कर) पराजित करो, जो हमसे दुर्व्यवहार करता है (उसको

भी पराजित करो)।

टिप्पणी– अभिवृत्य – अभि + वृ + ल्यप्।

अभि त्वां देवः सविता–

भि सोमो अवीवृधत्।

अभि त्वा विश्वा भृता–

स्यभीवर्तो यथाससि।। 3।।

शब्दार्थ– त्वा– तुमको, देवः – देव, सविता– सवितृ, सोमः – सोम, अभि अवीवृधत्– चारों तरफ से समृद्ध किया है, अभि– चारों तरफ से (समृद्ध किया है), त्वा– तुमको, विश्वा– सम्पूर्ण, भूतानि– प्राणियों ने, अभीवर्तः – चारों तरफ घूमने वाले, यथा– जिससे, असिस– बने रहो।

संदर्भ– पूर्ववत्।

अनुवाद– सवितृ देव ने तुमको चारों तरफ से समृद्ध किया है, सोम ने तुमको चारों तरफ से समृद्ध किया है, सम्पूर्ण प्राणियों ने तुमको चारों तरफ से समृद्ध किया है, ताकि तुम चारों तरफ घूमने वाले बने रहो।

टिप्पणी– सविता–सवितृ प्रथमा बहुवचन

अभीवता अभिभव :

सपन्नक्षयणो मणिः।

रक्षाय मह्य बध्यतां

सपन्नेभ्यः पराभुवे।। 4।।

शब्दार्थ– अभीवर्तः – चारों तरफ घूमने वाली, अभिभवः – पराजित करने वाली, सपत्नक्षयणः – विपक्षियों का संहार करने वाली, मणिः – मणि, राष्ट्राय– राष्ट्र की समृद्धि के लिये, मह्यम्– मेरे में, बध्यताम्– बंधे, सपत्ने– सभ्यः – विपक्षियों को, पराभुवे– पराजित करने के लिये।

संदर्भ – पूर्ववत्।

अनुवाद– चारों तरफ घूमने वाली, पराजित करने वाली तथा विपक्षियों का संहार करने वाली, मणि, राष्ट्र (की समृद्धि) के लिये तथा विपक्षियों को पराजित करने के लिये मेरे बंधे।

टिप्पणी– मह्यम् – अस्मद् चतुर्थी ए. व.।

उदसौ सूर्यो अगा–

दुदिदं मामुकं वचः।

यथाहं शत्रुहाऽसा–

न्यसपत्नः सपत्नहा।। 5।।

शब्दार्थ– असौ– यह, सूर्यः – सूर्य, उत् अगात्– ऊपर गया है, उत्– अपर, इदम्– यह, मामकम्– मेरा, वचः – मन्त्र, यथा– जिस प्रकार, अहम्– मैं, शत्रुहाः – शत्रु को मारने वाला, असानि– होऊँ, असपत्नः – बिना प्रतिपक्षी का, सपत्नहा– प्रतिद्वन्द्वी को मारने वाला।

संदर्भ – पूर्ववत्।

अनुवाद– यह सूर्य ऊपर चला गया है, मेरा यह मन्त्र (भी) ऊपर (गया है), ताकि मैं शत्रु को मारने वाला, प्रतिद्वन्द्वी रहित तथा प्रतिद्वन्द्वियों को मारने वाला होऊँ।

टिप्पणी– असपत्नः – नञ् सपत्नः इति।

सपत्नक्षयणो वृषा–

भिराष्ट्रो विषासहिः।

यथाहमेषां वीराणां

विराजानि जनस्य च।। 6।।

शब्दार्थ— सपत्नक्षयणः — प्रतिद्वन्द्वी को नष्ट करने वाला, वृषा— इच्छा को पूरा करने वाला, अभिराष्ट्रः — अपने सामर्थ्य से राष्ट्र को पाने वाला, विससहिः — जीतने वाला, यथा— जिस प्रकार, अहम्— मैं, एषाम्— इन शत्रुओं के, वीराणाम्— वीरों का, विराजानि— शासन करूँ, जनस्य— अपनी प्रजाओं का, च — और।

अनुवाद— प्रतिद्वन्द्वी को नष्ट करने वाला (प्रजाओं की) इच्छा को पूरा करने वाला, राष्ट्र को सामर्थ्य से प्राप्त करने वाला तथा जीतने वाला (होऊँ), ताकि मैं (शत्रुपक्ष के) इन वीरों का तथा (अपने एवं पराये) लोगों का शासक बनूं।

2.3 (आ) (ii) अथर्ववेद कालसूक्त (19 / 53)

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्त्राक्षो अजरो भूरिरेताः।

तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ।। 1।।

अन्वय — कालः अश्वः सप्तरश्मिः, सहस्त्राक्षः, अजरः, भूरिरेताः वहति। तम् कवयः, विपश्चितः आ रोहन्ति, तस्य चक्रा विश्वा भुवनानि।

शब्दार्थ— सप्तरश्मिः — सात प्रकार की किरणों वाले। सहस्त्राक्षः — सहस्त्रों नेत्र वाला। अजरः — बूढ़ा न होने वाला। भूरिरेताः — बड़े बल वाला। कालः — काल, समयरूपी। अश्वः — घोड़ा। वहति— चलता रहता है। तम्— उस पर। कवयः — ज्ञानवान्। विपश्चितः — बुद्धिमान लोग। आ रोहन्ति— चढ़ते हैं। तस्य— उस काल के। चक्रा— चक्र, घूमने के स्थान। विश्वा— सब। भुवनानि— सत्ता वाले है।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के 19 वें काण्ड के 53 वें सूक्त 'काल—सूक्त' से उद्धृत है। इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि—भृगु हैं तथा देवता — काल है। इसमें सम्पूर्ण जगत् के कारणभूत कालरूप परमात्मा की स्तुति की गई है। इस मंत्र में काल का अश्वरूप में निरूपण किया गया है।

अनुवाद— ऋषि भृगु काल का अश्वरूप से निरूपण करते हुए कहते हैं कि सात रस्सियों वाला, सहस्त्र लोचन वाला, अजर अर्थात् नित्य तरुण रहने वाला, भूरि वीर्य वाला अर्थात् संतान उत्पन्न करने में समर्थ अश्व अपने सवारों को इच्छित स्थानों पर पहुँचा देता है। उस अश्व पर चढ़ने—उतरने में चतुर पुरुष चढ़ते हैं। उस अश्व के चक्र अर्थात् गन्तव्य स्थान सकल भुवन है।

इस मंत्र का दूसरे प्रकार से अर्थ इस प्रकार होगा— जो भूत, भविष्य और वर्तमान की सब वस्तुओं को व्याप्त कर लेते हैं वह अश्व, अनवच्छिन्न कालरूप परमेश्वर सब जगत् के कलयिता हैं। सात रश्मि अर्थात ऋतु वाले हैं, वह दिन—रात रूप सहस्त्र नेत्रों वाले हैं, सदा एकरूप रहने वाले अजर हैं, प्रभूत जगत को रचने की शक्ति से सम्पन्न भूरिरेता हैं। ऐसे काल सब प्राणियों को अपने—अपने कार्य में लगाते हैं। उन कालों को क्रान्तदर्शी विद्वान् पुरुष स्वाधीन कर लेते हैं। उस कालात्मक रथ के चक्र सब भुवनों में जाते है।

विशेष—

(i) प्रस्तुत मंत्र में कालचक्र को सम्पूर्ण विश्व में भ्रमणशील बताते हुए उसकी महिमा को व्यक्त किया गया है। वही अश्वरूप परमात्मा अथवा सूर्यरूप में सम्पूर्ण जगत् की आत्मा है।

(ii) इस मंत्र में त्रिष्टुप् छन्द है।

सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः।

स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ।। 2।।

अन्वय — एषः कालः सप्त चक्रान् वहति, अस्य सप्त नाभीः, अक्षः नु अमृतम्। सः इमा विश्वा भुवनानि